

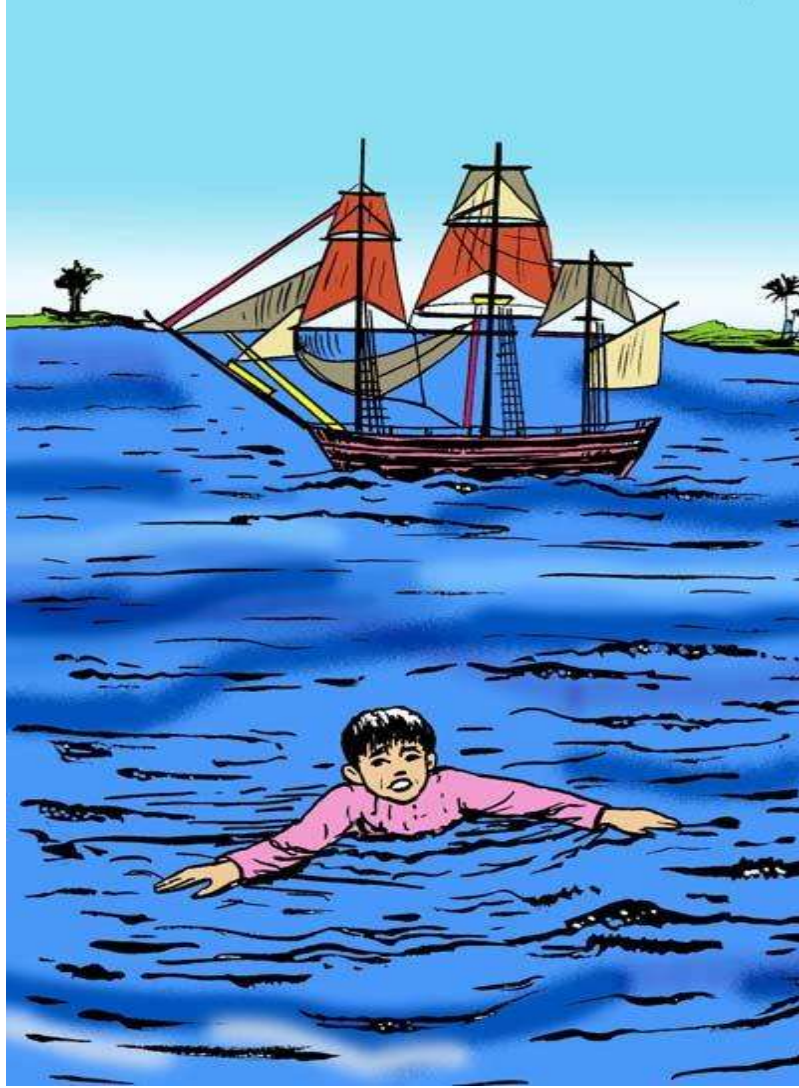
८ - आत्मोत्सव

8.1 - भव-समुद्र

एक व्यक्ति दुर्योग से अपने जहाज से समुद्र में गिर जाता है। जब तक उसका पुण्योदय है, तब तक वो तैरता रहता है। पर कब तक? अल्पकाल पश्चात् ही वो थक जायेगा और फिर समुद्र में अनन्त काल के लिये डूब जायेगा।

भावार्थ :- इस दृष्टांत में वर्णित व्यक्ति तो दुर्योग से अपने जहाज से समुद्र में गिर जाता है, पर तुम तो अपनी स्वयं की भूल से अनादि से इस भव सागर में गिरे हुए हो।

वर्तमान भव में मनुष्य पर्याय रूपी पुण्य होने के कारण तुम तैर रहे हो पर विचार करो कि कब तक तुम तैरते रहोगे? अरे थोड़े ही काल पश्चात् तुम्हारा पुण्य क्षीण हो जावेगा, तुम थक जाओगे और फिर से अधोगति में अनन्त काल के लिये डूब जाओगे।



एक पल के लिये हे जीव, तुम विचार करो कि अगर समुद्र के बीचों बीच तुम गिर जाते हो और चारों तरफ तुम्हें कोई बचाने वाला नहीं दिखता हो तब तुम्हारी क्या दशा होगी?

पानी की बड़ी-बड़ी लहरें तुम्हें इधर से उधर फेंकेंगी। तुम बचाओ-बचाओ चिल्लाओगे तो भी सुनने वाला कोई नहीं होगा। ऐसे में तुम्हारी मानसिक दशा क्या होगी? हर पल तुम्हें मौत अपने करीब आती प्रतीत होगी। तुम अत्यन्त भयभीत हो जाओगे। उस समय तुम्हें खाने-पीने का, आमोद-प्रमोद का, संसार के भोग-उपभोग का ख्याल आयेगा क्या? तुम्हारा अत्यन्त मेहनत से कमाया धन, मकान, परिवार, इष्ट मित्र कोई भी तुम्हें बचा नहीं पायेगा।

हे भव्यात्मा ध्यान से सुन। प्रत्येक जीव इस संसार रूपी भव समुद्र के बीचों बीच पड़ा है और उसे कोई बचाने वाला दिख नहीं रहा है। वह अगर तड़फ नहीं रहा है, चिल्ला नहीं रहा है, तो इसका मतलब यह है कि उसने अत्यधिक मात्रा में मोह रूपी मदिरा पी ली है, जिससे वह बेहोश हो गया है। मृतक तुल्य हो गया है।

अपनी सहजानन्द रूपी नौका पर सवार श्री सद्गुरु वहाँ से गुजरते हैं और करुणावश ज्ञान जल के छींटे देकर उसे उसकी बेहोशी से उठाना चाहते हैं, उसका कल्याण कर उसे उसके इस अनादि के दुःख से बचाना चाहते हैं।

हे जीव अब तुम भी अपनी यह मोह रूपी मदिरा के पीने से आई बेहोशी से उठो और कुछ अपना कल्याण करो। क्या तुम्हें अपना भला नहीं करना है? इस संसार में रहने वाले किस जीव का संसार से भला हुआ है तनिक विचार तो करो। अब वक्त आ गया है। उठकर खड़े हो जाओ और अपने शुद्धात्मा रूपी ऐरावत हाथी को कीचड़ में से निकालो। फिर उस पर आरूढ़ होकर इस लोक के शिखर पर आसीन होकर परमपद को प्राप्त करो।

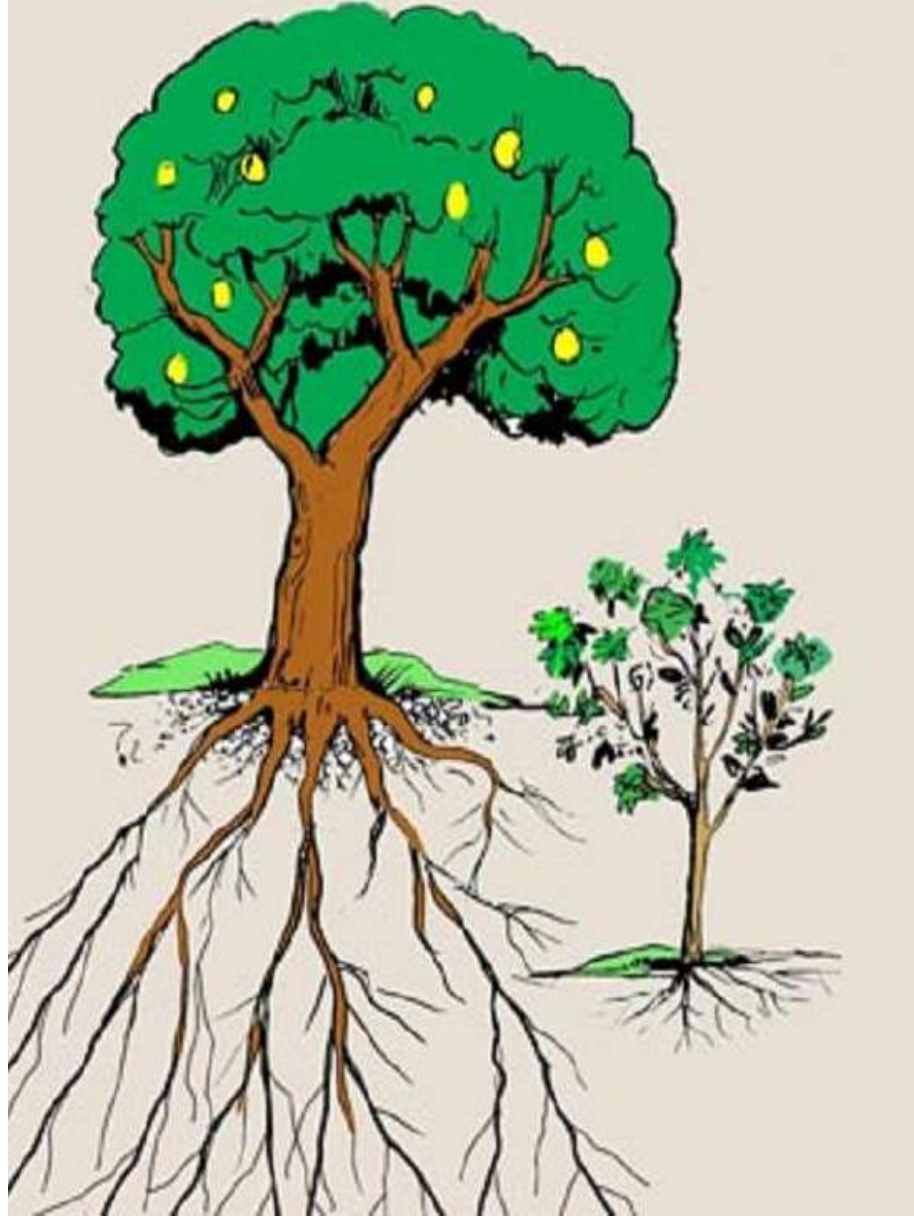
8.2 - मौसमी फूल

शिष्य - हे प्रभो, ये मौसमी सुन्दर फूलों वाले पौधे शीघ्र ही विनष्ट क्यों हो जाते हैं?

सद्गुरु - वत्स, जिस पेड़ की जितनी गहरी जड़ें होती हैं, वह उतने ही ज्यादा समय तक गतिमान रहता है। फिर जिसकी जड़ें अनन्त गहराई में समायी हों, वह तो निश्चित ही अनन्तकाल तक चैतन्यमान रहेगा। अतः अपने अन्तर को टटोल कि तू कहाँ पर है और चाहता क्या है?

भावार्थ :- बहुत गम्भीर बात है भाई। इस दृष्टांत में यह बताया गया है कि-

तुम जैसा चाहोगे, वैसा ही पाओगे। अतः तुम अगर अपने आप को मनुष्य भव जितना ही मानते हो तो शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे और अगर तुमने अपनी चैतन्य सत्ता अनन्तकाल तक मानी है तो तुम वर्तमान पर दृष्टि न कर अपने अनादि-अनन्त स्वरूप पर दृष्टि करो। फिर तुम्हें निश्चित ही अपने सत्स्वरूप की प्राप्ति होगी।



अब निर्णय तुम्हारे हाथ में है। कोई कुछ भी तुम्हें देने में समर्थ नहीं है। सब कुछ तुम्हारे पास ही है। ऐसा जानकर, मानकर अपनी आत्मा की अनन्त गहराई में रम जाओ, जम जाओ, जहाँ पर सदाकाल रहने वाले अनन्त-अनन्त सुख का साम्राज्य लिये मोक्ष-लक्ष्मी तुम्हें वरमाला डालने को आतुर हो खड़ी है ।

8.3 - केवलज्ञान की शक्ति

प्रश्न - केवल ज्ञान की शक्ति कितनी?

उत्तर - त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को प्रत्यक्षवत् जानना, देखना।

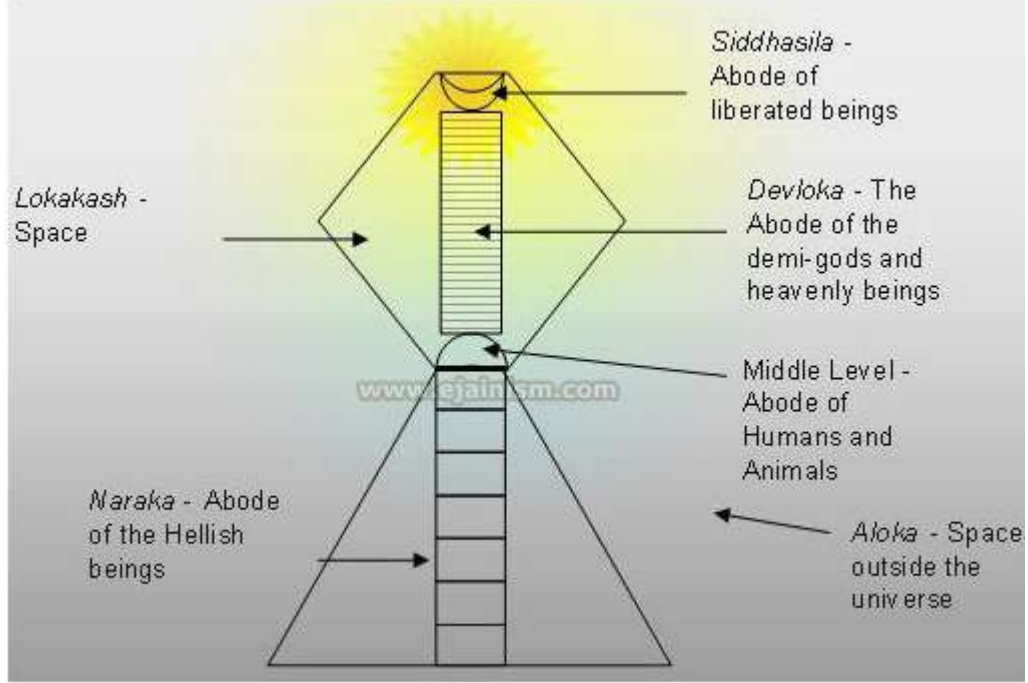


प्रति प्रश्न - और उसकी सत्ता कितनी ?

उत्तर - एक समयमात्र।

(एक सेकण्ड में लगभग २.७ निमिष होते हैं और एक निमिष में असंख्यात समय होते हैं।)

भावार्थ :- हे जीव जरा विचार तो करो। तुम्हारे आत्म द्रव्य में अनन्त गुण भरे पड़े हैं जिनमें एक गुण है अनन्त ज्ञान। उसकी अरिहन्त एवं सिद्ध अवस्था में केवल



ज्ञान रूपी पर्याय प्रति समय निकलती रहती है। उस केवल ज्ञान की एक पर्याय की शक्ति इतनी है कि वह त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष देखती जानती है।

लेकिन विचार तो करो कि इतनी शक्तिशाली पर्याय रहती कितनी देर है? अरे वह तो एक सेकण्ड के असंख्यातवें भाग रूपी एक समय में ही नष्ट हो जाती है। दूसरे समय में दूसरी पर्याय उदित होती है।

अहो जब सृष्टि की सबसे शक्तिशाली महिमावंत केवल ज्ञान रूपी पर्याय भी एक समय में ही नष्ट हो जाती है तब फिर इस तीन लोक में तुम और किसे चाहोगे? अरे ऐसा जानकर तुम केवल ज्ञान रूपी अनन्त पर्यायों के पिण्ड अनन्त ज्ञान सरीखे जिसमें अनन्त गुण भरे हैं, ऐसे अपने कारण परमात्मा को जानकर उसमें सहज भाव से लीन हो जाओ।

8.4 - बेहोशी

कई वर्षों की बेहोशी में भी मानव जिन्दा ही कहलाता है, क्योंकि उसका जीवन-रस (खून) प्रत्येक अंग में प्रवाहित रहता है। इसी तरह जीव-द्रव्य का जीवन-रस उसका सम्यक्त्व

(आत्मज्ञान) है, जो अगर प्रवाहित है तो वो जीवित है, अन्यथा मृतक ही है और शीघ्र ही सड़न-गलन शुरू होने वाला है।

भावार्थ :- अहो तुम्हारे अज्ञान पर एक दम से चोट करें ऐसा कथन है यह। कई वर्षों तक अगर कोई बेहोश रहे तो भी वह जिन्दा ही कहलाता है क्योंकि उसका जीवन रस रूपी खून उसके प्रत्येक अंग में प्रवाहित हो रहा है।



इसी तरह हे जीव तुम वर्तमान में जिन्दा हो या मृतक हो, यह निश्चय करो, क्योंकि तुम्हारी आत्मा का जीवन रस रूपी सम्यक्त्व अगर प्रवाहित है तो ही तुम जीवित हो, अन्यथा मृतक तुल्य ही हो और जिस तरह मृतक में शीघ्र ही सड़न-गलन शुरू हो जाता है, उसी तरह तुम्हारे यह पुण्यकर्म भी शीघ्र ही नष्ट हों जावेंगे और फिर तुम तिर्यन्च (पशु, पक्षी, चींटे आदि) की तुच्छ योनी में सड़न-गलन में रहने वाले जीव बनकर अनन्तानन्त दुख को भोगोगे।

8.5 - सिक्के का मूल्य

देवयोग से एक बालक को सोने का एक सिक्का मिल जाता है। उस सिक्के में एक और शेर की आकृति थी और दूसरी ओर राजा की। बालक को वह सिक्का बहुत सुन्दर लगा। वो बार-बार उस सिक्के को उछालकर खेलने लगा। जब राजा ऊपर आता तो वो खुश होता और जब शेर आता तो दुखी। इस तरह मात्र कौतूहलवश वह सुख-दुख का अनुभव करने लगा। उस सिक्के में जो सोना है, उसका उसे रंचमात्र भी भान नहीं है।



श्री परमगुरु अत्यन्त करुणा बुद्धिवश समझाते हैं कि हे जीव, यह जो शुभ और अशुभ रूपी राजा और शेर हैं, वे तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सिक्के में जो आकृति है वह भी सोने की ही है। अतः तू मात्र इस आकृति को ही सच मत मान, वो तो सोना ही है।

आकृति कैसी भी हो, कुछ भी हो, कीमत सोने की है। सोने से ही उस सिक्के की कीमत है, मात्र आकृति से नहीं, ऐसा जानकर हे वत्स, अपनी इस बालक वृत्ति को त्यागकर अब तरुण अवस्था को प्राप्त कर अपने सोने जैसे शुद्धात्मा को पा लो और समस्त लोकालोक को अपने तेजस्व से चकाचौंध कर दो।

भावार्थ :- अहो ss यहां पर इस दृष्टांत में यह दर्शाया गया है कि जिस तरह एक बालक सिक्का उछालने में ही सुख-दुख मानकर अपना समय व्यर्थ नष्ट कर देता है, उसी तरह हे जीव तुम भी इस संसार में अपनी मिथ्या मान्यताओं से अनुकूल सामग्री मिलती है तो सुख मानते हो और प्रतिकूल सामग्री आती है तो दुख मानते हो।

यह जो अनुकूल एवं प्रतिकूल सामग्री है वह वास्तव में तुम्हारा कुछ भी हित-अहित करने में समर्थ ही नहीं है, फिर भी तुम ऐसा मानकर सुखी-दुखी हो रहे हो तो उसका एक मात्र कारण मोह रूपी मदिरा का पीना ही है जिसके कारण इस बाल वृत्ति का तुम त्याग नहीं कर पा रहे हो।

अगर इस मोह का अभाव हो जाए तो तुम्हारी सहज दृष्टि में यह संसार स्पष्ट दिखने लगेगा। फिर तुम्हारी दृष्टि भी सिक्के के सोने रूपी अपने भगवान आत्मा पर टिक जावेगी, जम जावेगी और तब तुम भी संसार की किसी भी क्रिया में सुख न मानकर अपनी आत्मा में लीन रहकर अनन्त सुख का सदाकाल अनुभव करने लगोगे।

8.6 - अहिंसा

अहिंसा ss अहिंसा ss - अरे अहिंसा की बात करने वालों को पता है कि जिस समय वे अहिंसा की बात कर रहे होते हैं, उस समय उनके मुँह में पवन और लार के संयोग से अनन्त जीवों की उत्पत्ति और मरण होता रहता है। वे साँस भी लेते हैं तो अनन्त जीवों की हिंसा करके, वे चलते हैं तो अनन्त जीवों (सूक्ष्म और स्थूल) को मारकर।

अरे विचार करो कि अगर गेहूँ के कुछ दानों में घुन दिखता है तो यह जान लो कि बाकी सभी दानों में घुन का बीजारोपण हो चुका है। ऊपर से वो भले ही साफ दिखे, पर होता वो जीव सहित ही है और उसे पिसवाने और खाने में मात्र हिंसा की पुष्टि होती है।

पुनः कभी यह भी सोचा है कि जिस चावल को इतना रुचि से खा रहे हो, उसका एक-एक दाना उगाने में किसान ने अनन्त स्थूल एवं सूक्ष्म जीवों की हिंसा की है। क्या खाने वाले को उसका कुछ दोष नहीं लगेगा?

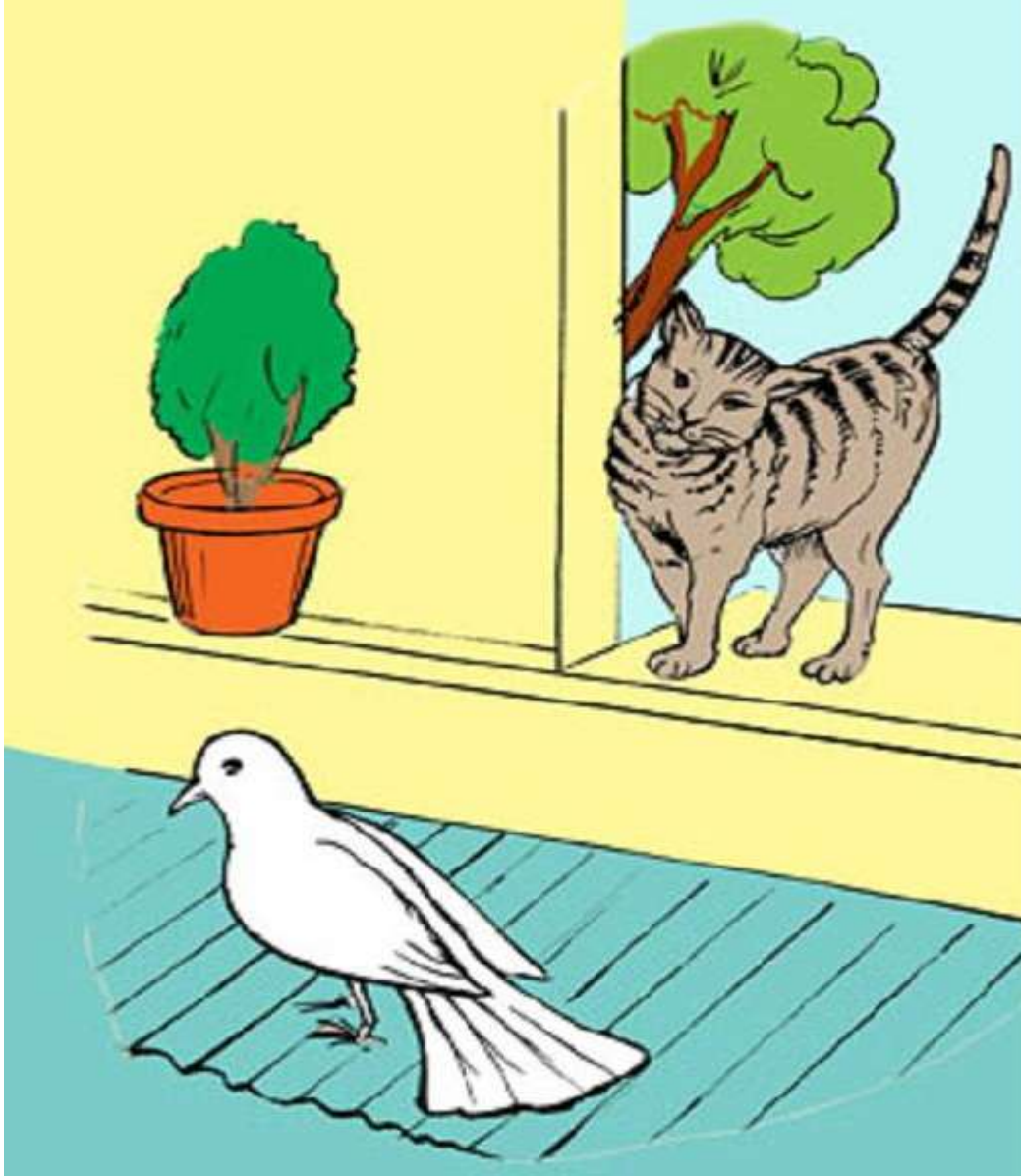


श्री परमगुरु अनन्त करुणाभाव से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि ठीक है तुम अपनी कमजोरी वश चल रहे हो, फिर रहे हो, खा रहे हो, साँस ले रहे हो, पर उनका उपयोग करते हुए क्या तुम्हें इस संसार को धारण करने का सतत् दुख है?

क्या तुम श्री वीर प्रभू से बारम्बार प्रार्थना करते हो कि हे प्रभो, अब मुझे और जन्म नहीं चाहिये और कब वो धन्य दिवस आवेगा जब मैं इन सांसारिक प्रपंचों से मुक्त हो सकूँगा ।

अगर ऐसा नहीं है तो तुम सच्चे अहिंसक कहलाने के हकदार नहीं हो, क्योंकि तुम्हारे निमित्त से प्रति समय अनन्तानन्त जीवों की हिंसा हो रही है और तुम्हें उसका खेद, दुःख, प्रायश्चित्त भाव भी नहीं है और न ही उसे भविष्य में टालने की इच्छा, आकांक्षा ।

कदाचित् कोई कहे कि हम थोड़ी हिंसा कर रहे हैं और किसान बहुत, सो यह तो ऐसा ही हुआ कि कबूतर सोचे कि आँख बंद करने से मैं बिल्ली को नहीं देख रहा हूँ। अतः वो भी मुझे नहीं देख रही होगी, तो वह मात्र अपनी नासमझी से दुर्गति को ही प्राप्त होता है ।



भावार्थ :- हे जीव बहुत गम्भीर बात है। सर्वप्रथम तो तुम्हें विचार करना है कि क्या तुम्हें इस भव के धारण करने का दुःख है अथवा नहीं, क्योंकि तुम्हारे प्रत्येक कार्य जैसे चलना-फिरना, खाना-पीना, सोना-जागना, परिवार, धन सम्पत्ति से राग करना, अनिष्ट पदार्थों से द्वेष करना आदि सभी में प्रति समय तुम्हारे निमित्त से अनन्त सूक्ष्म जीवों की हिंसा हो रही है।

ये जीव इतने सूक्ष्म हैं कि दिखते भी नहीं हैं जैसे कि हवा-पानी के जीव। तुम चाह कर भी उनकी पूरी तरह रक्षा नहीं कर सकते हो, फिर भी तुम कुछ बड़े जीवों को बचा कर अपने आपको हिंसा रहित मानकर प्रमुदित होते हो, तो यह तुम्हारा अभिमान तुम्हारे लिये घातक है, क्योंकि जब तक तुम भव-धारण कर रहे हो, तब तक इसके निमित्त से हिंसा होनी ही है।

अतः प्रथम तो तुम्हें इस शरीर को धारण करने का अत्यन्त-अत्यन्त दुःख होना चाहिये जबकि तुम इस शरीर से अत्यन्त प्रीतिभाव रखते हो। यह तो घोर विपरीतता ही हुई।

उपरोक्त चर्चा मात्र द्रव्य हिंसा की ही है। इससे अनन्त गुने ज्यादा जो हिंसा प्रति समय तुम कर रहे हो वह भाव हिंसा है। प्रति समय तुम आत्मा का विस्मरण कर रहे हो और कर्मों का बंध कर रहे हो जो आत्मा को बांध रहे हैं।

इससे आत्मा के अनन्त गुणों का, उसकी अनन्त शक्तियों का प्रति समय घात हो रहा है। इस घात को करने वाला कौन है? तुम स्वयं जो मिथ्यात्व (अज्ञान) रूपी मोहपाश में अपने स्वयं के आत्मा को जकड़कर उसका प्रति समय घात कर रहे हो।

इस अन्तरंग हिंसा को कम करने से ही बाह्य हिंसा अपने आप कम होती जावेगी। अन्तरंग की पूर्ण शुद्धि के साथ ही तुम्हारे द्वारा की जाने वाली समस्त बाह्य हिंसा भी खत्म हो जावेगी तभी तुम सच्चे अहिंसक कहलाओगे।

8.7 - सिक्के के दो पहलू

निश्चय और व्यवहार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। न तो निश्चय मात्र ही सिक्का है और न ही व्यवहार मात्र। उन दोनों से कदाचित् सिक्का कहने में आता है पर सिक्के का चलन तो संसार ही में है।

अतः निश्चय और व्यवहार संसार में ही भटकने का कारण है। उस सिक्के की वास्तव में कीमत उसके सोने से है और उसे गलाकर ही (निश्चय-व्यवहार का लोप करके ही) सोने को प्राप्त किया जा सकता है।

पुनः सिक्के के एक ओर राजा की छवि अंकित है तो दूसरी ओर उसके राज्य की सीमा (लोकाकाश प्रमाण)। कदाचित् वो छवि (निश्चय) राजा को पहचानने में सहायक है, पर उसे ही राजा मानना, यह तो मूढ़ता ही है।

भावार्थ :- इस मुक्ति में यह समझाया गया है कि जिस तरह सिक्के का चलन संसार में होता है उसी तरह निश्चय या व्यवहार अथवा दोनों को मानने वाले जीव संसार में ही अटक जाते हैं।

बहुत गम्भीर बात है भाई जरा ध्यान से विचार करो। केवल ज्ञानी भगवान निश्चय से निजात्मा को देखते हैं और व्यवहार से तीन लोक, तीन काल की समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को देखते हैं। इससे पता चलता है कि निश्चय और व्यवहार एक साथ ही रहते हैं और एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जहाँ पर निश्चय है वहाँ पर व्यवहार अवश्य रहता है। मिथ्यात्व रूपी अज्ञान अवस्था में भी निश्चय – व्यवहार सदैव रहते हैं क्योंकि वे तो सिक्के के समान ही आत्मा के साथ सदाकाल रहते हैं। निश्चय से यह जीव स्वयं के अनन्त दर्शन-ज्ञान से देखता जानता है और व्यवहार से पर पदार्थों के आश्रय से देखता जानता है।

यह जीव जिसे व्यवहार मानता है वह वास्तव में व्यवहाराभास है और जिसे निश्चय मानता है वह वास्तव में निश्चयाभास है। दोनों को एक साथ मानने वालों को उभयाभासी कहा जाता है। ऐसे इस निश्चय-व्यवहार का स्वरूप जानकर शीघ्र ही उन दोनों का लोप करके स्वर्णमयी परमपद परमात्मा को प्राप्त करो।

8.8 - कागज की नाव

कागज की नाव में बैठकर कोई पार उतरना चाहे तो क्या होगा? अरे पल भर में ही वो कागज गल जायेगा, नाव टूट जायेगी और तू डूब जायेगा। अतः ऐसी नाव का अहंपना छोड़।

भावार्थ :- कागज का स्वभाव ही है कि वो पानी के सम्पर्क में आकर गल जाता है। अतः ऐसे कागज की नाव बनाकर कोई नदिया के पार उतरना चाहे तो उसका क्या होगा?

इसी तरह कोई भक्ति-पूजा, जप-तप, नियम-संयम करके पुण्य रूपी कागज प्राप्त करता है और सोचता है कि इस कागज की नाव बनाकर वह भव समुद्र को पार कर लेगा तो यह उसकी मूर्खता ही है



क्योंकि शीघ्र ही यह तुम्हारा कमाया हुआ पुण्य सांसारिक थपेड़ों के जल से गल जायेगा और फिर तुम्हारे सर्वनाश का कारण भी यह पुण्य ही होगा। हो सकता है तुम्हें इस पुण्य से एक देवभव मिल जाये किन्तु शास्त्रों में प्रसिद्ध है-

“देव मरे एकेन्द्रिय होय”

तो फिर यह पुण्य ही तुम्हारी वर्तमान त्रस पर्याय का भी अभाव कर तुम्हें स्थावर पर्याय में पहुँचा देगा। देवभव में जितना समय तुम बिताओगे उससे अनन्त गुना समय तुम्हें फिर एकेन्द्रियपने या निगोद में बिताना पड़ेगा। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे बकरे को बलि चढ़ाने के पूर्व खूब खिलाते-पिलाते हैं, खूब सेवा करते हैं, सुख से रखते हैं और फिर एक दिन उसकी बलि चढ़ा देते हैं। बकरे की बलि तो दूसरे देते हैं पर यहाँ तो तुम स्वयं ही अपनी मिथ्या मान्यताओं के कारण अपनी खुद की बलि दे रहे हो। अतः ऐसे

पुण्य का कर्त्तव्य छोड़ो । तुम्हें यह कार्य भी करना है पर आत्मा की सच्ची लगन के साथ सहज भाव से साक्षीपने के साथ करना है ।

8.9 - भव-सागर

समुद्र की असीम विशालता एवं अपार गहराई भयभीत करती सी लगती है । उसके सामने भूमि अत्यन्त तुच्छ सी दिखती है पर उस समुद्र को गृहण करने वाली भी भूमि ही होती है जो कि मैं हूँ ।



भावार्थ :- अहो ss एक छोटे से समुद्र को भी पार करना हो तो तुम घबड़ा जाते हो । फिर तुम अनादि से आज तक अत्यन्त विशाल तीन लोक में फैले इस भव समुद्र को पार नहीं कर पाये हो, तो अब कैसे पार कर सकोगे ?

इस भव समुद्र के सामने तुम अपने आपको अत्यन्त दीन-हीन, तुच्छ पाते हो, किन्तु हे जीव जरा विचार तो करो। तुम तो अनन्त गुणों के स्वामी हो। तुम्हारे मात्र एक अनन्त ज्ञान नामक गुण की एक केवल ज्ञान रूपी पर्याय में तो तीन लोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायें समायी हुई हैं। फिर यह भव सागर क्या चीज है। यह तो तुम्हारे केवल ज्ञान के किसी कोने में ही पड़ा है।

ऐसी अनन्त-अनन्त केवल ज्ञान की पर्यायें जिस ज्ञान गुण में समायी है वह सोचो कितना महिमावन्त होगा और ऐसे ज्ञान गुण सरीखे अनन्त गुण अपनी-अपनी शक्तियों सहित जिस तुम (कारण परमात्मा) में विराजमान हैं उस तुम की महिमा का वर्णन करने में तीन लोक के समस्त शास्त्र अपने आपको असमर्थ पाते हैं। अतः अब तो अपनी शक्ति को पहचानो और अपना कल्याण कर तीन लोक के अधिपति बनो।

8.10 - आत्मचन्द्र

शंका - चन्द्रमा तो हमसे अत्यधिक दूर है। अनादि से कोशिश कर रहे हैं, पर मिलता नहीं है। फिर उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है?

समाधान - हे भव्यात्मा एक पल तो विचार कर। जब तुम गमन करते हो तो चन्द्रमा साथ-साथ चलता है। जब तुम ठहर जाते हो तो वह रुक जाता है। फिर चाँद में और तुममें क्या भेद रहा? तुम उसे दूर मानकर वृथा आकुलित हो रहे हो पर वह तो स्वयं तुम्हारे आश्रित है।

भावार्थ :- सच्चे जिज्ञासु जीव को बार-बार शंका होती है कि यह जो आत्मा रूपी चंद्रमा है वह तो हमसे (इस शरीर से) अत्यधिक दूर है। अनादि से कई बार कोशिश भी की, किन्तु उसे प्राप्त नहीं कर पाये। अब इस भव में उसकी प्राप्ति कैसे हो, यह विचार जिज्ञासु को परेशान करता रहता है। से संसार के किसी भी कार्य में चैन नहीं मिलता है। उसकी इस बैचेनी को जानकर सद्गुरु उसे समझाते हैं कि जब तुम ठहरते हो तो चाँद भी रुका रहता है और जब तुम गमन करते हो तो वह चलने लगता है। फिर तुम में और चाँद में भेद ही कहाँ रहा।



इसी तरह तुम्हारा आत्मा भी प्रत्येक कार्य में तुम्हारे साथ ही रहता है। फिर तुम में और आत्मा में दूरी कहाँ है? जिस कार्य-परमात्मा को तुम चाह रहे हो वह तो खुद तुम्हारे (कारण परमात्मा के) ही आश्रित है। अतः अब तो सच्चाई को स्वीकारों और अपने आप पर अहंपना प्रगट करो।

8.11 - ठसमठस जीव

शिष्य - हे प्रभो, देखकर चलने में तो अहिंसा होती होगी न ?

सद्गुरु - वत्स, प्रश्न तुम्हारा विचारणीय है। एक सूई भी अगर गिर जाती है तो किस तरह झुककर जमीन पर दृष्टि जमाकर उसे ढूँढते हो। फिर तुम्हें सूई से भी सूक्ष्म जीव इतनी ऊपर से चलते समय कैसे दिख जावेंगे? अतः इस तरह का व्यर्थ कर्तव्य छोड़ो।

ज्ञानी तो कदाचित् यह मानते हैं कि मार्ग में ठसमठस जीव भरे पड़े हैं। मजबूरीवश उन्हें चलना तो पड़ता है, पर उनके लिये यह बड़ी ही कष्टप्रद स्थिति होती है।

जितने कर्म बाँधे हैं, उनका फल तो मिलेगा ही, अब तो एकमात्र कर्तव्य ऐसे कर्मों की निर्जरा करना ही है और इस संसार से ऊपर उठ कर लोकाग्र में स्थित हो जाना है।



भावार्थ :- अहो ऽऽ आत्म धर्म में अहिंसा की कितनी गूढ़ व्याख्या है। दिखने वाले जीवों की रक्षा तो सभी धर्मों के अनुयायी करते है परन्तु नहीं दिखने वाले जीवों के प्रति भी करुणा रखना चाहिये यह सच्चा आत्मार्थी ही जानता हैं क्योंकि उसने भी इन योनियों में अनन्त बार जन्म लिया है।

साथ ही इन सबसे ऊपर वह मानता है कि जब तक मैं मेरे इन भवों का अभाव नहीं करूंगा, मैं सच्चे अर्थों में अहिंसक नहीं बन सकता हूँ क्योंकि तब तक मेरे शरीर धारण करने से, इसके निमित्त से, जीवों की हिंसा होती रहेगी।

अतः हे जीव अब तुम भी इस संसार के प्रति अपना कर्तव्य छोड़ो और समस्त जीवों के प्रति कल्याण की भावना रखते हुए अपने निज स्वभाव को प्राप्त करने में जुट जाओ ताकि तुम इस अनन्तानुबंधी कर्म को, जो कि तुम्हारे द्वारा अनन्तद्रव्यों का घात करा रहा हैं, उसका नाश कर सहज सुख में लीन हो सको।

८.१२ शरीर से हिंसा

हे जीव, क्या तुझे पता है, इस शरीर को धारण करने में प्रतिसमय (एक सेकण्ड में असंख्यात् समय होते हैं) कितनी हिंसा हो रही है? अहो ss कितना खेद का विषय है।

इस शरीर के निमित्त से प्रति समय जितने जीवों की हिंसा हो रही है, उतनी संख्या की चींटियों अगर तराजू के एक पलड़े में रखे और दूसरे पलड़े में इस शरीर को रखें, तो चींटियों का पलड़ा जरा भी भूमि से उठता नहीं है। फिर भी यह जीव मगन है, प्रति समय इस शरीर ही के पोषण में। अरे ss ऐसे भाव क्या दर्शाते हैं, एक पल इस बात पर भी विचार तो कर।

भावार्थ :- हे जीव श्री गुरु को बारम्बार जीवों के प्रति करुणा के भाव, अहिंसा के भाव आते हैं और वे बार-बार तुम्हें समझा रहे हैं कि अब तो अपने इस बार-बार शरीर को धारण करने पर दुःख प्रगट करो, खेद प्रगट करो। अगर तुम अब भी अपने सांसारिक कर्म करने में मगन हो तो इससे यह पता चलता है कि तुम्हें रंच मात्र भी इस संसार में रहने का दुख नहीं है। अतः तुम अब अनन्त काल तक इस संसार के कैदी बनकर रहोगे।

जरा विचार करो कि जब चोट लगे तो सभी लोग कराहते हैं, यहां तक कि चौपाये और जलचर जीव भी कराहते हैं और सुख का प्रसंग आने पर सुख मनाते हैं। तुम भी ऐसा ही करते दिखते हो तो तुममें और उनमें क्या फर्क हुआ?

वास्तव में तुम्हें तो इस शरीर को धारण करने का अत्यन्त दुख होना चाहिये क्योंकि इस शरीर के निमित्त से तुम प्रति समय इतने जीवों की हिंसा करते हो कि अगर उतनी चींटियाँ एक पलड़ें में रखे और दूसरे पलड़े में तुमको, तो चींटियों का पलड़ा जरा भी नहीं उठता है। अतः अब भी वक्त है, सच्चाई को पहचानों और भव का अभाव करने का प्रयत्न अपनी सम्पूर्ण शक्ति से करो अन्यथा तुम भी शीघ्र ही उन चींटियों के या निगोद के भव में पहुँच जाओगे।

=====